तत्त्वज्ञता

श्री जिनेन्द्र वर्णी

निःसन्देह समीचीन श्रद्धान, समीचीन विवेक तथा समीचीन आचरण का परम्परागत त्रित्व ही एकमात्र कल्याण का हेतु है, इसके अतिरिक्त अन्य सब कुछ वृथा है, परन्तु देखना तो यह है कि क्या वास्तव में हमारा श्रद्धान, विवेक तथा आचरण 'समीचीन' विशेषण को धारण करने के योग्य है। क्या किसी व्यक्ति विशेष से प्रभावित होकर उसकी बातों पर श्रद्धा कर लेना समीचीन है अथवा अन्य धर्मों का तिरस्कार करने वाली विविध साम्प्रदायिक श्रद्धाओं की भांति ही यह कोई साम्प्रदायिक श्रद्धा है। क्या शास्त्रज्ञान समीचीन ज्ञान है अथवा विश्वविद्यालयों से बड़ी-बड़ी उपाधि प्राप्त कर लेने वाले स्नातकों के ज्ञान की भांति ही वह कोई शब्द-संग्रह है। क्या 'शरीर जुदा, आत्मा जुदा' इस मन्त्र की माला जपना समीचीन विवेक है अथवा केवल शब्द-विन्यास है। क्या शास्त्रानुसार क्रियायें करना या व्रत आदि धारण कर लेना समीचीन आचरण है अथवा लज्जा, भय, गौरव के कारण धारण किया गया कोरा लदाव है।

शास्त्रों का उल्लेख है कि समीचीन त्रित्व को धारण करने वाले व्यक्तियों की संख्या प्रायः अत्यल्प हुआ करती है, तब क्या स्कूल, कालेज की भांति शास्त्रों का अभ्यास करके तथा कराके अथवा व्रतादि धारण करके तथा कराके इनकी संख्या में वृद्धि करना समीचीन है अथवा शब्दाडम्बर तथा बाह्याडम्बर के कारण उत्पन्न हुई भ्रान्ति है। क्या इस प्रकार के मानवीय प्रयासों के द्वारा स्वाभाविक-विधान बाधित किया जा सकता है। ये तथा अन्य भी अनेक प्रश्न हैं जो कि पग आगे रखने से पहले किसी भी कल्याणाकांक्षी मुमुक्षु के हृदय में उदित हुआ करते हैं। परन्तु इनका उत्तर वह कहां से तथा किससे प्राप्त करें, क्योंकि सभी तो धर्म पर दृढ़ आस्था रखते हैं, सभी शास्त्रज्ञ हैं, सभी देह तथा आत्मा को पृथक् समझते तथा कहते हैं और सभी शास्त्रानुकूल आचरण का यथाशक्ति पालन कर रहे हैं।

यह एक पहेली है। किसकी सामर्थ्य है कि इसको बूझ सके। क्या इसको बूझने वाला भी उसी श्रेणी में न गिना जायेगा, जिसमें कि 'मैं वन्ध्या का पुत्र हूं' ऐसा कहने वाला। तब क्या आध्यात्मिक क्षेत्र में तथा साधना के क्षेत्र में जो इतना बड़ा विकास आज चारों ओर दिखाई दे रहा है, वह सब वृथा है अथवा मिथ्या है। इस बात का उत्तर देने का भी सर्वज्ञ के अतिरिक्त और किसको अधिकार है। गुत्थी पर गुत्थी चढ़ी जाती है, उलझन पर उलझन पड़ी जाती है।

सत्पुरुषार्थ को वृथा बताना इष्ट नहीं है, केवल यह बताना इष्ट है कि समीचीनता सत्य है और सत्य को सत्य ही पढ़ सकता है, तत्वज्ञ ही तत्वज्ञ को पहचान सकता है। परन्तु जो तत्वज्ञ होगा वह दूसरों को सत्यता या असत्यता का प्रमाण-पत्र देने का अहंकार करेगा ही क्यों। दूसरों को छोटा-बड़ा देखने वाली विषम दृष्टि है तो तत्वज्ञता नहीं और तत्वज्ञता है तो विषम दृष्टि नहीं। यह एक विचित्र पहेली है।

तथापि इतना तो निश्चित रूप से कहा ही जा सकता है कि तत्त्वज्ञता का सम्बन्ध शब्द से नहीं जीवन से है। इसका यह अर्थ नहीं कि शब्द अथवा शास्त्रज्ञता सर्वथा व्यर्थ है। निःसन्देह शब्द इस मार्ग में सबसे बड़ा साधक है परन्तु सबसे बड़ा बाधक भी यही है। साधक तो यह किसी-किसी को ही होता है, प्रायः सबको बाधक ही होता देखा जाता है। भ्रान्ति उत्पन्न कर देना इसकी सबसे बड़ी बाधा है क्योंकि कौन शास्त्रज्ञ अपनी दृष्टि को असमीचीन मानता है। जब उसकी सभी बातें सत्य होती हैं, उसकी सभी व्याख्यायें सत्य होती हैं, उसकी सभी चर्चायें सत्य होती हैं और उसका अध्ययन तथा अध्यापन भी सत्य होता है तब वह अपने को असमीचीन कैसे मान सकता है। उसे यह भी पता लगने नहीं पाता कि जो कुछ व्याख्यायें या चर्चायें अथवा अध्ययन-अध्यापन वह कर रहा है वह स्वयं अपने जीवन को पढ़कर कर रहा है या शास्त्रों को देखकर अथवा शास्त्र में पढ़ी गई बातों को संस्कारवश कर रहा है। शास्त्रों में ११ अंग के पाठी द्रव्यलिंगी को मिथ्यादृष्टि कहा गया है। सभी शास्त्रज्ञ प्रायः शास्त्रज्ञता की गौणता दर्शाने के लिए इसका उदाहरण देते हैं परन्तु कौन ऐसा है जो अपने को भी उसी श्रेणी का समझता हो। यही शब्द की सबसे बड़ी भ्रान्ति है।

शास्त्रों में शास्त्राध्ययन को स्वाध्याय कहा है। इसका क्या तात्पर्य है इसका विचार करने वाले कोई बिरले ही हों तो हों क्योंकि स्वाध्याय का सीधा-सीधा अर्थ Self reading या अपने जीवन का अध्ययन करना है शब्द पढ़ना नहीं। शब्द उसमें निमित्त अवश्य होता है, क्योंकि शब्द वाचक है और उसका वाच्य अध्येता के अपने जीवन में पढ़ा जाने योग्य है। जो अध्येता वाचक पर से वाच्य का अध्ययन करने में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सफल हो जाता है उसके लिये ही शास्त्राध्ययन स्वाध्याय कहा जा सकता है। अन्य सभी के लिये तो वह शास्त्राध्ययन ही है, स्वाध्याय नहीं। स्वाध्याय को ही परम तप कहा गया है शास्त्राध्ययन को नहीं, क्योंकि स्वाध्याय से जिस प्रकार कर्मों के शतखण्ड होते देखे जाते हैं उस प्रकार शास्त्राध्ययन से नहीं देखे जाते। स्व-अध्ययन से निरपेक्ष शास्त्राध्ययन तो अध्येता में ज्ञानाभिमान उत्पन्न करके कर्मों की वृद्धि का ही हेतु होता है, हानि का नहीं।

इसी प्रकार आचरण के क्षेत्र में भी समझा जा सकता है। आचरण शब्द जीवन की सहज गति का द्योतक है। **चारित्रं खलु धम्मो,** यह सूत्र चारित्र को धर्म अथवा स्वभाव घोषित करता है, क्योंकि धर्म का पारमार्थिक अर्थ वस्तु का स्वभाव किया गया है, बाह्य का क्रियाकाण्ड नहीं। वह जीवन को समता स्वभाव को हस्तगत कराने में निमित्त अवश्य हो सकता है। परन्तु जिस प्रकार शास्त्राध्ययन पर से कोई विरला ही स्वाध्ययन करने में सफल होता है और परमार्थतः उसी के प्रति उसे निमित्त कहा जा सकता है सबके प्रति नहीं, उसी प्रकार बाह्य क्रिया-कलाप पर से भी कोई विरला ही समता स्वभाव की प्राप्ति में सफल होता है, और परमार्थतः उसी के प्रति उसे निमित्त कहा जा सकता है, सबके प्रति नहीं।

निमित्त कहो या साधन एक ही बात है और प्राप्तव्य कहो या साध्य एक ही बात है। साधन को शास्त्रीय भाषा में व्यवहार कहा जाता है और साध्य को निश्चय। इसीलिये व्यवहार को सर्वत्र निश्चय का साधन कहा गया है। जिस प्रकार साध्य या निश्चय की प्राप्ति साधन या व्यवहार के बिना होनी सम्भव नहीं है, उसी प्रकार निश्चय या साध्य की प्राप्ति से निरपेक्ष रहता हुआ व्यवहार साधन कहलाने के लिये समर्थ नहीं है। यही साधन तथा साध्य की अथवा व्यवहार तथा निश्चय की मैत्री है।

स्वाध्याय के नाम पर शास्त्राध्ययन करने वाले हों या चारित्र के नाम पर बाह्य क्रियाकलाप करने वाले, दोनों इस न्याय की दृष्टि में समान हैं। दोनों ही एक नाव के पथिक हैं। इनमें से किसी भी एक को छोटा या बड़ा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्वाध्याय से निरपेक्ष शास्त्राध्ययन जिस प्रकार ज्ञानाभिमान जागृत करके कर्मों में वृद्धि करता है उसी प्रकार समता से निरपेक्ष बाह्य क्रिया-कलाप भी चारित्राभिमान या तपाभिमान जागृत करके कर्मों में वृद्धि ही करता है। "ये दोनों कर्म के इस वेग से अपनी रक्षा किस प्रकार करें" इस प्रश्न का उत्तर देना बहुत कठिन है क्योंकि जब तक वे स्वयं अपनी असमीचीनता को नहीं पहचान जाते तब तक इससे छुटकारा सम्भव नहीं। विश्वास किसी दूसरे के कहने से नहीं स्वयं अपने मन के कहने से होता है।

तत्वज्ञ की दृष्टि कुछ विचित्र ही होती है जिसका परिचय इन दोनों को ही नहीं है। वह ही समीचीनता के रहस्य को ठीक-ठीक जानता है, वह ही शास्त्राध्ययन का प्रयोग स्व-अध्ययन के लिये और बाह्य क्रिया-कलाप का प्रयोग समता की प्राप्ति तथा वृद्धि के लिये करता है, पाकर कर सकता है। उसके ढंग निराले हैं जिसे पहचानना साधारण दृष्टि की पहुंच से बाहर है। अपने भीतर-बाहर, दायें-बायें, ऊपर-नीचे, आगे-पीछे सर्वत्र ही वह एक तथा अखण्ड तात्त्विक विधान के दर्शन करता है, जो सहज तथा स्वाभाविक होने के कारण प्राकृतिक है, कृतक नहीं। उसे न यहां कुछ मैं दीखता है न मेरा, न तू न तेरा, न मनुष्य न तिर्यञ्च, न स्त्री न पुरुष, न बच्चा न बूढ़ा, न ब्राह्मण न शूद्र, न जैन न अजैन, न हिन्दू न मुस्लिम, न धर्म न अधर्म। उसे न यहां कुछ जन्म दीखता है न मृत्यु, न इहलोक न परलोक, न इष्ट न अनिष्ट, न मनोज्ञ न अमनोज्ञ, न अनुकूल न प्रतिकूल, न स्व न पर। ये सकल द्वन्द्व मनुष्य के मन में उपजी विकल्पकृत उपाधि हैं जिनका तात्विक विधान में कोई स्थान नहीं। जहां-जहां केवल तत्व ही तत्व में वर्तन करते प्रतीत हो रहे हैं वहां इन द्वन्द्वों को अवकाश कहां? सभी प्रकार के सम्बन्ध या रिश्ते-नाते, मनुष्यकृत हैं, प्राकृतिक या तात्विक नहीं। तब कौन पिता और कौन पुत्र, कौन भाई और कौन बहिन, कौन पति और कौन पत्नी, कौन मित्र और कौन शत्रु, कौन स्वामी और कौन सेवक। इन सब लौकिक सम्बन्धों की तो बात नहीं यहां तो साध्य-साधक, वाच्य-वाचक, उपास्य-उपासक, भगवान्-भक्त आदि के उस द्वैत को भी कहीं अवकाश नहीं है जिसका उल्लेख तात्विक विधान समझाने के लिये अध्यात्म-शास्त्रों में प्रायः किया जाता है। इतना ही क्यों यहां तो गुरु-शिष्य का वह भेद भी विलय को प्राप्त हो जाता है जो कि साधक दशा में मुमुक्षु का मूल आधार है और जिसका आश्रय लिये बिना तीन काल में भी कल्याण नहीं।

परन्तु अरे रे! यह क्या? तत्वज्ञ के मुख से इस प्रकार की व्यवहार विरुद्ध बातें सुनकर तू भी समस्त व्यवहार का लोप करने लगा? याद रख, नष्ट हो जायेगा, व्यवहार की चक्की में पिसकर रह जायेगा। जब तक चित्त में तनिक सा भी द्वैत है तब तक तत्वदृष्टि नहीं और जब तक तत्व-दृष्टि नहीं तब तक व्यवहार की भूमि का अतिक्रम सम्भव नहीं। पिता-पुत्र, शत्रु-मित्र, स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-शूद्र आदि के लौकिक-द्वैत का लोप करने से पहले ही भगवान्-भक्त, गुरु-शिष्य, धर्म-अधर्म, साध्य-साधक आदि के परमार्थिक द्वैत का लोप करने से क्या तू व्यवहारातीत हो जायेगा। यही तो वह भ्रान्ति है जो कि शब्दाध्ययन के द्वारा प्रायः उत्पन्न हुआ करती है। रक्षा कर, इस भ्रान्ति से अपनी रक्षा कर। मुमुक्षु के लिये इससे अधिक विनाशकारी अन्य कुछ नहीं है।

दृष्टि में तथा आचरण में द्वैत के जीवित रहते केवल मुख से अद्वैत के राग अलापना किसको कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है। अन्दर कुछ और बाहर कुछ, इस प्रकार की वक्र प्रवृत्ति को शास्त्रों में मायाचारी कहा गया है, आत्म-वंचना कहा गया है। क्या तू नहीं जानता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि इस प्रकार की आत्म-वंचना से दूसरों का कुछ बिगाड़ हो या न हो, तेरा तो सर्वनाश हो ही रहा है।

तत्वज्ञ में यह भ्रान्तिकारक वक्रता सम्भव नहीं। वह भीतर तथा बाहर से समान होता है। इसी से वह केवल दृष्टि-सम्पन्न नहीं आचरण-सम्पन्न भी होता है। इस प्रकार की दृष्टि जागृत हो जाने पर विषम व्यवहार सम्भव नहीं है। लेने-देने में, बोलने-चालने में, पढ़ने-पढ़ाने में, करने-कराने में उसका समस्त व्यवहार स्वतः समता के रंग में रंग जाता है। यही है दृष्टि, विवेक तथा आचरण का पारमार्थिक त्रित्व, जिसके जागृत हो जाने पर भीतर तथा बाहर सर्वत्र जो कुछ भी दिखाई दे रहा है उसमें कुछ भी वैचित्र्य रह नहीं जाता है।

जगन्मंचपर होने वाली यह अखण्ड नाट्यलीला अनादिकाल से ऐसे ही चलती रही है और ऐसे ही चलती रहेगी। न इसे कोई चलाने वाला है और न बिगाड़ने वाला। अहंकार की दृष्टि के द्वारा अहंकारकृत छोटे-छोटे विधान ही बनते-बनाते अथवा बिगड़ते-बिगड़ाते दिखाई देते हैं परन्तु जिसकी दृष्टि इस क्षुद्र अहंकार का अतिक्रम करके सकल विश्व में व्याप गई है, जो व्यष्टि को न देखकर समष्टि को देखती है, एक-एक को न देखकर समग्र को युगपत् देखती है, इस अखिल विश्व को तथा इसकी व्यवस्था को एक तथा अखण्ड इकाई के रूप में देखती है, उसके लिये कर्तृत्व को कहां अवकाश है। विश्वव्यापी इस इकाई में अहंकारकृत क्षुद्र व्यष्टियें न जाने कहां विलीन होकर रह गई हैं। न यहां देशकृत व्यवधान है और न कालकृत। देशकालानवच्छिन्न यह समग्र तथा इसका सकल विधान केवल प्राकृतिक तथा स्वाभाविक है जिसमें हेर-फेर करने के लिये कोई समर्थ नहीं। सर्वज्ञ भी जब इसे केवल देख ही सकते हैं, इसमें कुछ कर नहीं सकते, तब अस्मद्-युष्मद् की तो बात ही क्या ?

वास्तव में हेर-फेर करने की बुद्धि अहंकार की उपज है। क्षुद्र होते हुए भी वह अपने को बड़ा समझता है और समस्त विश्व को अपने अनुकूल परिणमन करा देने की कल्पनायें किया करता है। अपने को बदलने के बजाय दूसरे को बदल देना यही उसका सकल पुरुषार्थ है और यह पुरुषार्थ ही सकल प्रपंच का आधार है। जब तक अहंकार का लेश भी जीवित है व्यक्ति इस विश्वव्यापी सहज तात्विक विधान को कैसे देख तथा समझ सकता है। यही कारण हैं कि तात्विक विधान को शास्त्रों में पढ़कर तथा समझकर भी वह अपने उस ज्ञान का प्रयोग दूसरों की दृष्टि को बदल देने के प्रति ही करता है, अपनी दृष्टि को बदल देने के लिये नहीं।

यदि एक क्षण के लिये भी कदाचित् वह देख पाये कि वस्तु स्वभाव के आधीन होने के कारण विश्व का जटिल विधान सहज तथा स्वाभाविक है और इसलिए अकृत्रिम, तो इसमें हस्तक्षेप करने की अथवा बदल देने की इसकी कल्पना को कहीं अवकाश न रह जाये। यदि एक क्षण के लिये भी कदाचित् वह देख ले कि इस सकल विधान का शासक तथा सम्राट् कर्म है जो मानवीय विधान की भांति किसी की सिफारिश की प्रतीक्षा नहीं करता, तो इसमें हस्तक्षेप करने की अथवा बदल देने की उसकी कल्पना को कहीं अवकाश न रह जाये। यदि एक क्षण के लिए भी कदाचित् वह देख ले कि उत्थान-पतन, वृद्धि-ह्रास, जन्म-मरण, सृष्टि-प्रलय, सुख-दुःख, धर्म-अधर्म आदि द्वन्द्वों का यह चक्र अनादि काल से यों ही चला आ रहा है और अनन्त काल तक यों ही चलता रहेगा। काल की नित्य तथा निर्बाध इस महागति को किंचित्-मात्र भी बाधित करना तो दूर इसे बाधित करने का विचार करने वाला भी इसके जबड़े का चबीना बनकर रह जाता है, तो इसमें हस्तक्षेप करने की अथवा बदल देने की उसकी कल्पना को कहीं अवकाश न रह जाये। यदि एक क्षण को भी कदाचित् वह यह विश्वास कर ले कि विश्व की यह अखण्ड तथा निर्बाध व्यवस्था वैसी ही नियत तथा टंकोत्कीर्ण है जैसी कि सर्वज्ञदेव ने देखी है तो इसमें हस्तक्षेप करने की अथवा बदल देने की उसकी कल्पना को कहीं अवकाश न रह जाये।

तत्वज्ञ ही ठीक जानता है कि विश्व की व्यवस्था में स्वभाववाद की अथवा कर्मवाद की अथवा कालवाद की अथवा नियतिवाद की चर्चा करने वाले स्वयं जगत् के इस विधान के अन्तर्गत हैं, अन्यथा दूसरों को बदल देने की उनकी यह प्रवृत्ति अवश्य विराम पर जाती। सर्वत्र तात्विक विधान के दर्शन करने वाले में कर्तृत्व बुद्धि का सत्व सम्भव नहीं और कर्तृत्व बुद्धि के सद्भाव में तात्विक विधान के दर्शन सम्भव नहीं। शास्त्र इस बात की स्पष्ट घोषणा कर रहा है कि जो कर्ता है वह ज्ञाता नहीं और जो ज्ञाता है वह कर्ता नहीं—"कोई एक अकेला व्यक्ति सारे विश्व को बदल सके यह निःसन्देह असम्भव है परन्तु अपनी सामर्थ्य के अनुसार वह अपने सीमित क्षेत्र में तो परिवर्तन कर ही सकता है अन्यथा पुरुषार्थ निष्फल हो जायेगा' ऐसी चर्चा करने वाले-पुरुषार्थवादी नहीं जानते कि उनकी यह आवाज वास्तव में सत्पुरुषार्थ की है या कि उसकी आड़ लेकर अहंकार की गर्जना है, अन्य कुछ नहीं। जब तक यह अहंकार जीवित है तब तक उसके समस्त विश्वास, विवेक तथा आचरण समीचीनता को स्पर्श करने के लिये समर्थ नहीं हैं।

इस तथ्य को यदि वह अपने जीवन में प्रत्यक्ष कर ले तो उसकी कर्तृत्व बुद्धि विश्रान्त हो जाय, अहंकार विलय हो जाये, ज्ञाता-दृष्टा-बुद्धि जागृत हो जाये। उस अवस्था में वह जगत् की भांति तमाशा न बनकर इसका तमाशाई बन जाये, दृश्य न रहकर दृष्टा बन जाय, ज्ञेय न रहकर ज्ञाता बन जाये, रागी न रहकर वीतराग बन जाये और वही होगा उसका समीचीन पुरुषार्थ जिसमें श्रद्धा, विवेक तथा आचरण का त्रित्व एक-रस होकर अपने त्रित्व को भी खो देता है। उस अवस्था में वह स्वयं कुछ न करके तटस्थ तथा साक्षी की भांति जगत् प्रसिद्ध पुरुषार्थ की नाट्य-लीला को देखा करे और इसे धन्यवाद दिया करे क्योंकि यदि यह न हो तो जगत् ही न हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यष्टि से समष्टि और समष्टि से व्यष्टि भिन्न नहीं है। तृणमात्र में भी हेरफेर करने का विकल्प विकल्प है। तृण में वह परमार्थतः कुछ कर सकता है या नहीं यह बात तो अनुभव ही बता सकता है, परन्तु इतना तो स्पष्ट है ही कि करने-धरने के विकल्प से उसकी जो पारमार्थिक हानि होने वाली है उससे वह किसी प्रकार भी बच नहीं सकता। इस प्रकार तत्वज्ञता का अवसान अकर्तृत्व में अकर्तृत्व का ज्ञाता-दृष्टा-भाव में, ज्ञाता-दृष्टा का वीतरागता में और वीतरागता का अवसान समता में होता है। यही समीचीन आचरण है जिसे प्राप्त कर लेने पर अन्य कुछ भी प्राप्तव्य नहीं रह जाता, जीवन की महायात्रा समाप्त हो जाती है। उस अवस्था में न कहीं व्यवहार का पदचिह्न दिखाई देता है और न निश्चय का, न साधन का और न साध्य का। यही परमानन्द है, यही परमानन्द है।

कल्प	वस्तु के द्रव्य की अपेक्षा विभाग	वस्तु के वस्तु की अपेक्षा विभाग
१.	सत्ता	सत्
२.	जीव, अजीव	जीवभाव-अजीवभाव। विधि-निषेध। मूर्त्त-अमूर्त। अस्ति-काय-अनस्तिकाय
३.	भव्य, अभव्य, अनुभय	द्रव्य, गुण, पर्याय
४.	(जीव) संसारी, असंसारी; (अजीव) पुद्गल, अपुद्गल	बद्ध, मुक्त, बन्धकारण, मोक्षकारण
५.	(जीव) भव्य, अभव्य, अनुभय; (अजीव) मूर्त्त, अमूर्त्त	औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक
६.	जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल, आकाश	द्रव्यवत्
७.	जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध संवर, निर्जरा, मोक्ष	बद्ध, मुक्त, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल, आकाश
८.	जीवास्रव, अजीवास्रव, जीवसंवर, अजीवसंवर, जीवनिर्जरा, अजीवनिर्जरा, जीवमोक्ष, अजीवमोक्ष	भव्य संसारी, अभव्य संसारी, मुक्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल
९.	जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष	द्रव्यवत्
१०.	(जीव) एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय; (अजीव) पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल	द्रव्यवत्
११.	(जीव) पृथिवी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति, त्रस; (अजीव) पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल	द्रव्यवत्
१२.	(जीव) पृथिवी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति, संज्ञी, असंज्ञी; (अजीव) पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल	— —
१३.	(जीव) भव्य, अभव्य, अनुभय; (पुद्गल) बादर-बादर, बादर, बादरसूक्ष्म सूक्ष्मबादर, सूक्ष्म-सूक्ष्म; (अमूर्त अजीव) धर्म, अधर्म, आकाश, काल	— —

(श्री जिनेन्द्रवर्णी कृत जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३ से उद्धृत)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org